Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2021 GISRRJ | Volume 4 | Issue 5 | ISSN : 2582-0095

भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली

डॉ. आरती शर्मा
सहायकाचार्य (शिक्षापीठ)
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय (केन्द्रीय विश्वविद्यालय), नई दिल्ली।

Article Info
Volume 4 Issue 5
Page Number : 148-152

Publication Issue :
September-October-2021

Article History
Accepted : 01 Sep 2021
Published : 15 Sep 2021

शोध-सार– यूँ तो विश्व के सभी देशों में शिक्षा को महत्त्व दिया जाता रहा है, किन्तु भारत में जो प्राचीन शिक्षा–पद्धति है, उसने न केवल देश–प्रदेश में, वरन् सम्पूर्ण विश्व में एक अमिट छाप छोड़ी है। अंग्रेज विद्वान् एफ.ई.केई इस बात की पुष्टि में कहते हैं कि "भारत के शिक्षाशास्त्रियों ने ऐसी शिक्षा–पद्धति का विकास किया जो न केवल साम्राज्यों के ध्वंस हो जाने तथा समाज में परिवर्तनों के बाद भी जीवित रही, वरन् हजारों वर्षों तक उच्च ज्ञान की ज्योति को भी जलाए रखा। उनमें ऐसे अधिसंख्य महान् चिन्तक हुए हैं जिन्होंने केवल भारत की ज्ञान–परम्परा पर ही नहीं, वरन् समूचे विश्व के बौद्धिक जीवन पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है।" इस शोध पत्र में भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली, छात्र–जीवन, गुरु का महत्त्व, गुरु–शिष्य सम्बन्ध, गुरुकुल और वहाँ की शिक्षा प्रणाली के बारे में जानेंगे।

मुख्य शब्द –भारत, प्राचीन, शिक्षा, गुरुकुल, चिन्तक, छात्र, अधिसंख्य।

वास्तव में भारतीय प्राचीन शिक्षा जीवन की वह साधना है जो मनुष्य को अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचाने में परम सहायक बनती है। यह मनुष्य को बुद्धि, विवेक तथा कुशलता प्रदान करती हुई उसे सुख, आनन्द, यश एवं समृद्धि प्रदान करती है। प्राचीन शिक्षा का महत्त्व इस बात से प्रकट है कि यह शिक्षा मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, भौतिक व आध्यात्मिक शक्तियों और क्षमताओं का सामंजस्यपूर्ण विकास कर मानव–स्वभाव को रूपान्तरित करती हुई उसे उत्कृष्ट बनाती है।

प्राचीनकाल में शिक्षा पर कम तथा विद्या, विज्ञान, विनय एवं प्रबोध पर विशेष बल दिया जाता था। शिक्षा के स्थान पर विद्या शब्द का अधिक प्रयोग होता था। विद्या की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि "विद्या माता की भाँति रक्षा करती है। पिता की भाँति कल्याण करती है और पत्नी की भाँति सुख देती है।"

प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के मस्तिष्क को उर्वर ही नहीं, उसके हृदय को भी विशाल एवं उदार बनाना था। इस बात का प्रमाण है कि भारत जैसे विशाल और अखण्ड देश में विभिन्न धर्म और संस्कृतियाँ आज भी पल्लवित एवं पोषित हैं। लोग सुगठित होकर परस्पर प्रेम और सौहार्द तथा स्वाभिमान और अध्यात्म के साथ जीवन–यापन करते देखे जाते हैं।

प्राचीन शिक्षा के उद्देश्य के सन्दर्भ में डॉ. अल्तेकर 'एज्यूकेशन इन एनसिऐण्ट इण्डिया' में कहते हैं कि "ईश्वर–भक्ति एवं धार्मिकता की भावना, चरित्र–निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन, सामाजिक कुशलता की उन्नति एवं राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार प्राचीन भारत में शिक्षा के उद्देश्य एवं आदर्श थे।"

भारतीय प्राचीन शिक्षा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. प्राचीन शिक्षा में गुरु की प्रमुखता और प्रेरणा का होना।
2. धनवान और निर्धन, राजा और रंक की शिक्षा में भेदभाव न होना। इस दृष्टि से सभी के लिए समान शिक्षा का होना।

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

3. शिक्षा की बागड़ोर न तो शासक के हाथ में और न राजनेताओं अथवा अन्य संसारी प्रभावशाली व्यक्तियों के हाथ में थी अर्थात् शिक्षा का नियन्त्रण निस्पृह ऋषियों, गुरुओं, आचार्यों के हाथ में होना।
4. अध्ययनकाल में शिक्षार्थी के माता-पिता पर शिक्षा का आर्थिक बोझ न पड़ना।
5. शिक्षाकाल में पवित्रता, निष्कलंकता, ब्रह्मचर्य आदि का विशेष ध्यान रखा जाना अर्थात् चरित्र-निर्माण और अनुशासन पर अत्यधिक बल देना।
6. शिक्षा का धर्म, संस्कृति एवं नैतिक - आध्यात्मिक मूल्यों से समन्वित होना।
7. शिक्षा का केवल अक्षर एवं पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित न होना अपितु नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित आत्म-संयम, इन्द्रिय-निग्रह, प्रलोभनों की उपेक्षा आदि पर विशेष बल देना।
8. प्राचीन शिक्षा में अपनी भाषा को महत्त्व देना।
9. प्राचीन शिक्षा में गुरु-शिष्य का पवित्र और आध्यात्मिक सम्बन्ध होना यानी प्रेम और श्रद्धा पर आधारित होना।
10. प्राचीन शिक्षा व्यवसाय की पूर्ति मात्र न होना अपितु विमुक्ति दिलाने वाली विद्या के रूप मे होना।
11. संस्कारों के द्वारा बालक का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास करना।
12. मनुष्य में अन्तर्निहित ज्ञान-शक्ति को अभिव्यक्त करना।
13. योग सन्ध्या, प्राणायामादि नियमों से बढ़ती हुई इन्द्रिय शक्तियों का संचय एवं आत्माभिमुखता के रूप मे सदुपयोग में परिणत होना, जिससे छात्रों की मेधा विकसित हो सके।
14. छात्रों में सहनशीलता, विनयशीलता, विचारशीलता, राग-द्वेषरहित, छल-प्रपंचरहित, साहस, त्याग, तप, सन्तोष, आत्म-संयम, इन्द्रिय-निग्रह, आत्माभिमुखता, सेवा, परोपकारिता, कर्त्तव्यनिष्ठता, कृतज्ञता, प्रामाणिकता व आत्म-विश्वास आदि गुणों को प्रकट कराना, जिससे उनका जीवन सफल हो सके और वे एक न एक दिन नर से नारायण बन सकें।
15. छात्रों के गुणों और योग्यताओं के आधार पर उपाधियाँ देना, जिसका परीक्षण गुण, कर्म, स्वभाव और योग्यता के अनुकूल गुरुकुलों में आचार्यों द्वारा होना।
16. दैनिक दिनचर्या पर महत्त्व देना।

भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली में छात्र-जीवन- प्राचीनकाल में प्राय: छात्र गुरुधाम पर ही शिक्षार्जन करते थे जिससे उन्हें गुरुओं का अधिकाधिक सान्निध्य और आशीर्वाद प्राप्त हो सके। गुरुधाम गुरुओं के घर हुआ करते थे। कवि वादीभसिंह 'क्षत्र चूड़ामणि' में इस बात का उल्लेख करते हैं कि बालक को प्रारम्भिक शिक्षा या तो घर पर ही दी जाती थी या फिर गुरु के निवास-स्थानों पर। सुयोग्य गुरु रस् प्रारम्भिक शिक्षार्जन करने के उपरान्त ही उच्च शिक्षा की प्राप्ति के लिए विद्यार्थी सदा प्रयत्नशील रहता था। उच्च शिक्षा या विद्यार्जन के लिए गुरुकुलों, विद्यागृहों या योग्यतम गुरुओं के निवास-स्थान ही उपयुक्त समझे जाते थे। उपनयन संस्कार के उपरान्त ही बालक को शिक्षा प्रारम्भ करायी जाती थी। बालक जब पाँच वर्ष का हो जाता था, तब उसे विधिवत् अक्षरों का ज्ञान आरम्भ कराया जाता था। उपनयन क्रियाकाल में छात्रों को केश-मुण्डन, मुञ्ज की बनी हुई मेखला, विकाररहित वस्त्रों के पहनने का विधान था। मुण्डित सिर, मन, वचन व काय की पवित्रता के सूचक माने जाते थे। छात्रों को शारीरिक श्रृंगार का त्याग करना पड़ता था। दांतोन करना, ताम्बूल (पान-सुपारी) खाना, अञ्जन (काजल) लगाना, उबटन लगाकर स्नान करना आदि क्रियाओं की वर्जना थी। शय्या या पलंग-आसन पर शयन की अपेक्षा भूमि पर शयन करने का विधान था। इन सबके पीछे एक ही उद्देश्य था कि जब तक छात्र या विद्यार्थी श्रमपूर्वक विद्याध्ययन न कर ले, विविध शास्त्रों का, विषयों का ज्ञान प्राप्त न कर ले तब तक उसे संयमित व सद्गुणों से मण्डित जीवन व्यतीत करना होता था। शिक्षा का समय साधना का समय काल माना जाता था।

शिष्य की पात्रता-अपात्रता-

स्नेहाद्वा लोभतोवापि योऽनुगृह्णाति दीक्षया।
तस्मिन् गुरौ च शिष्ये तु देवता शापमापतेत्॥

(प्र.शा.त. 3650)

वैदिक ग्रन्थों में इस बात का भी उल्लेख है कि "यदि स्नेह या लोभ के कारण अयोग्य विद्यार्थी को विद्या दे दी जाए तो विद्यार्थी और गुरु दोनों को ही देवता का अभिशाप लगता है।" इसलिए गुरु अपना शिष्य बनाने से पूर्व उसकी परीक्षा अवश्य करते थे। इसके लिए शिष्य की परीक्षा का समय 'सार संग्रह' में सामान्यत: एक वर्ष निर्धारित था। कहीं कहीं पर जैसा कि 'शारदा तिलक' में इसका परीक्षण समय वर्ण के अनुसार तय किया गया है। जैसे- ब्राह्मण का एक वर्ष, क्षत्रिय का दो वर्ष, वैश्य का तीन वर्ष और शूद्र का चार वर्ष।

छान्दोग्य उपनिषद् में यह उल्लेख है कि जिन विद्यार्थियों की अभिरुचि अध्ययन-अध्यापन, पठन-पाठन में है तो ऐसे विद्यार्थियों को आचार्य शिक्षा के योग्य मानते थे, किन्तु इसके साथ यह भी उल्लिखित है कि जिन विद्यार्थियों की प्रतिभा ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होती थी, उन्हें आचार्य विद्या न देकर उनकी रुचि के अनुसार उन्हें फाल, हल या ताने-बाने आदि कामों में लगा देते थे।

वैदिक ग्रन्थों में सत् शिष्यों के निम्न लक्षण जो निर्धारित हैं, उन लक्षणों से युक्त शिष्य ही शिक्षा के योग्य व पात्र माना जाता था। यथा-

1. जो कुलीन हो।
2. जो पुरुषार्थ परायण हो।
3. जिसकी वेदाध्ययन में रुचि हो।
4. जो अपने धर्म में निरत हो।
5. जो भक्तिपूर्ण माता-पिता का हितकारी हो।
6. जो शरीर, मन, वाणी और धन के द्वारा गुरु की सेवा में रत हो।
7. जो जाति, विद्या और धन आदि के अभिमान से शून्य हो।
8. जो गुरु के प्रति भक्ति-परायण, आज्ञाकारी और शुभाकांक्षी हो।
9. जो गुरु, मन्त्र और देवता के प्रति दृढ़ भक्ति-सम्पन्न हो।

वैदिक ग्रन्थों के अनुसार कतिपय लोग शिक्षा के अयोग्य या अपात्र माने जाते थे। यथा-

1. दूसरों के दोषों को देखने वाले।
2. कुटिल स्वभाव वाले।
3. अपने गुरु को, जो उसमें सुखपूर्वक सत्य, सिद्धान्तामृत का सिंचन करता है, अपने माता-पिता के समान न समझने वाले।
4. गुरु का मन, वाणी और कर्म रसे आदर न करने वाले।
5. प्रमत्त व्यक्ति अर्थात् अपने क्रिया-कलापों में सर्वदा सावधान व सचेत न रहने वाले।
6. कामुक, व्यभिचारी प्रकृति वाले।
7. जिनमें जिज्ञासा की भावना न हो।
8. जिनमें विनय का अभाव हो। हठी हों और कृतघ्न व असत्यवादी हों।
9. अनुशासन मे विश्वास न रखने वाले।
10. जो लोक-निदिंत, असमर्थ, शत्रु-प्रिय, प्रज्ञाहीन, मूढ़ हों।
11. जो आश्रम के आचार से शून्य हों।
12. जो धैर्यरहित, क्रोधी व भ्रान्त हों।

प्राचीन काल में गुरु का महत्त्व– प्रारम्भ से ही शिक्षा के क्षेत्र में गुरु का महत्त्व सर्वोपरि माना गया है। प्राचीनकाल में लोक में शिक्षक, आचार्य, उपाध्याय और अध्यापक आदि के लिए 'गुरु' शब्द व्यवहृत था। गुरु की गरिमा और महिमा अनन्त थी। इसलिए गुरु का दर्जा भगवान से भी बढ़कर माना गया है। क्योंकि गुरु ही एक मात्र दिशाबोधक होता है जो भगवान बनने का मार्ग बताता है।

न विना ज्ञानविज्ञाने, मोक्षस्याधिगमो भवेत्।

न विना गुरि सम्बन्धं, ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व 326/22-30)

कहा गया है कि जिस प्रकार ज्ञान-विज्ञान के बिना किसी को मोक्ष नहीं मिल सकता, उसी प्रकार सद्गुरु से सम्बन्ध हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। गुरु इस भवसागर से पार उतारने वाले होते हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान नौका के समान होता है। मनुष्य उस ज्ञान को प्राप्त कर भवसागर से पार और कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे नौका और नाविक दोनों की ही अपेक्षा नहीं रहती।

पुस्तकप्रत्याधीतं हि, नाधीतं गुरुसंनिधौ।

भ्राजते न सभा मध्ये, जारगर्भ इव स्त्रियः॥

(कल्याण, शिक्षांक)

सच्चे अर्थों में गुरु न केवल शास्त्रों का और न केवल परा-अपरा विद्या का बोध कराने वाला होता था, अपितु वह एक ध्यान था, पूजा था, मन्त्र था और थ मोक्ष का मूल। यह सही है शिक्षार्जन में पुस्तकों का, शास्त्रों का महत्त्व है, किन्तु ये पुस्तक, शास्त्र आदि बोधगम्य हो सकें इसके लिए विद्यार्थियों को गुरु की शरण या सान्निध्य में जाना ही होता है। धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि "गुरु के सान्निध्य के बिना मात्र पुस्तकों, शास्त्रों द्वारा अध्ययन की हुई विद्या उसी प्रकार सभा में शोभा नहीं पाती जैसे स्त्री का जार-गर्भ।"

प्राचीन काल में गुरु-शिष्य सम्बन्ध– गुरु शिष्यों को केवल पढ़ाते ही नहीं थे। वे शिष्यों के आचरण की रक्षा एवं देखभाल तथा वात्सल्य भाव से उनका पोषण भी करते थे। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने भी कहा है कि "शिक्षण अवधि में गुरु शिष्यों के लिए अध्यापक भी है और अभिभावक भी।" इसलिए शिष्यों के प्रति गुरु की दृष्टि सर्वांगीण कल्याण की होती थी। इसी दृष्टि को आधार बनाते हुए वे शिष्यों को विद्या प्रदान करते थे। यदि कोई शिष्य विद्या, बुद्धि-कौशल में गुरु से अधिक प्रवीण हो जाये तो गुरु इसे अपना गौरव समझते थे।

इसी प्रकार शिष्य भी गुरु में अखण्ड आदर व निष्ठा रखते थे। वे गुरु के एक वाक्य को अमृत वाक्य समझकर उसके पालन के लिए अपना सौभाग्य मानते थे। गुरु का आशीर्वाद उन्हें प्राप्त हो इसके लिए वे गुरुओं की सेवा सुश्रूषा में सतत प्रयत्नशील रहते थे। वे इस बात का सदैव ध्यान रखते थे कि गुरु को किसी प्रकार की असुविधा या कष्ट न हो। उन पर कोई आँच न आने पाये। यही कारण है कि प्राचीनकाल के सभी शिष्य एक से बढ़कर एक चरित्रवान, मेधावी, विद्वान् व तेजस्वी होकर निकलते थे।

गुरुकुल और उसकी शिक्षा-पद्धति–

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का प्रमुख आधार गुरुकुल था। गुरुकुल का शाब्दिक अर्थ है- वह कुल जहाँ गुरु की प्रधानता हो। गुरु का महत्त्व हो। गुरुकुल एक प्रकार से तप, त्याग और श्रम के संस्कार डालने वाले आश्रम हुआ करते थे। गुरुकुलों में गुरु के सान्निध्य में विद्यार्थी सर्व प्रकार की शिक्षा ग्रहण कर जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचने की सतत साधना करता था।

गुरुकुलों में विद्यार्थी के रहन-सहन, खान-पान, परिवेश-परिधान, अध्ययन-अभ्यास, व्रत-विधान आदि से सन्दर्भित बातों की शिक्षा दिए जाने की समुचित व्यवस्था रहती थी। बालक शिक्षार्जन हेतु गुरुकुल में जब प्रवेश करता था तो गुरुकुल का गुरु या आचार्य सर्वप्रथम उसका उपनयन संस्कार करता था और इस हेतु बालक को आचार्य अपने समीप बैठाता था और अपने संरक्षण में लेकर बालक में जन्मगत, परिवारगत और परिवेशगत जो दोष हुआ करते थे, उनका परिहार कर उसकी चित्त-चेतना में विराटता-विशालता के संस्कारों का बीजारोपण करता था।

गुरुकुल की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें विद्यार्थी को प्रकृति के साथ रहने का पर्याप्त अवसर मिलता था। प्रकृति के साथ रहकर उसमें विराट् तत्त्व को देखने व अनुभव करने की क्षमता पैदा होती थी। गुरुकुल का मूल प्रयोजन विद्यार्थी को

केवल पुस्तकीय ज्ञान कराना नहीं होता था। क्योंकि पुस्तक विद्यार्थी को वह ज्ञान नहीं करा सकती जो प्राकृतिक सम्पदाएँ सहज में ही उसे करा देती हैं।

गुरुकुल भारतीय संस्कृति के संपोषक हुआ करते थे। भारतीय संस्कृति के अनुसार जीवन चार आयामों में विभक्त है, जिसमें पहला आयाम ब्रह्मचर्य है। गुरुकुल के विद्यार्थी पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विधिवत् विद्याध्ययन करते थे। वहाँ ब्रह्मचर्य में ही मुख्यत: शिक्षा का विधान था और गुरुकुल की यह शिक्षा प्रणाली समाज के सभी अंगों–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र पर समान रूप से लागू होती थी। राजा–रंक, अमीर–गरीब पर भी यह नियम लागू होता था।

गुरुकुल एक प्रकार से ब्रह्मचर्य–आश्रम कहलाते थे जहाँ अर्थ और काम से विद्यार्थी सर्वथा अस्पृष्ट होते थे। वहाँ विलासिता नहीं, व्रत, तप:साधना और संस्कारों पर अत्यधिक बल दिया जाता था। ब्रह्मचर्य की साधना में रत विद्यार्थी मधु, माँस, मद्य, सुगन्धित द्रव्य, रसीले पदार्थ, स्त्री संगति एवं प्राणियों की हिंसा आदि से सर्वथा दूर रहता था। इन सब कारणों से लोगों में ब्रह्मचारी स्नातकों के प्रति अगाध श्रद्धा रहती थी अर्थात् वे सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। वास्तव में सन्त–महात्माओं की दृष्टि में गुरुकुल शिक्षा–प्रणाली का ब्रह्मचर्य प्राण है, धार्मिकता शरीर है एवं राष्ट्रीयता सौन्दर्य है।

गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली में नित्य और नियमित मन्त्रों का सस्वर उच्चारण होता था। इसका एक कारण यह था कि मन्त्रोच्चारण से उत्पन्न ध्वनि–तरंगें जब वायुमण्डल में प्रवेश पाती हैं तो एक प्रकार से अलौकिक वातावरण तो बनता ही है साथ ही मन्त्र ऊर्जा से विद्यार्थियों के व्यक्तित्व में अनेक सुप्त विशेषताएँ अनायास ही प्रस्फुटित हो जाती हैं। इसलिए गुरुकुल की विद्या व्यक्तित्व का परिष्कार करने वाली विद्या कहलाती थी। गुरुकुल की शिक्षा–प्रणाली 'सा विद्या या विमुक्तये' के लक्ष्य को सिद्ध करने वाली होती थी।

निष्कर्ष- इस प्रकार भारतीय शिक्षा प्रणाली का स्वरूप अत्यन्त विस्तृत एवं अविस्मरणीय है। इसीलिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 में भी प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली को आधुनिक शिक्षा का आधार बनाने की बात की गई है। एवं कहा गया है कि वर्तमान काल में भी शिक्षा का स्वरूप इस प्रकार होना चाहिए जिसमें विश्वबन्धुत्व एवं समत्व की भावना विकसित हो। भारत में वही शिक्षा सार्थक सिद्ध होगी जो छात्रों में नैतिकता, कर्तव्यपरायणता, विवेकशीलता, आत्मविश्वास व संकल्पशक्ति को जागृत कर सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1. शर्मा, श्री राम (2001), शिक्षा एवं विद्या, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
2. कल्याण, शिक्षांक (1988), भारतीय शिक्षा की समुन्नति के आधार क्या हों, पृ.सं. 396, गीताप्रेस, गोरखपुर।
3. राकेश, डॉ. विष्णुदत्त, कल्याण, शिक्षांक (1988), प्राचीन भारत में गुरुकुल की परम्परा, पृ.सं. 271, गीताप्रेस, गोरखपुर।
4. लोढ़ा, प्रो. कल्याणमल (2002), शिक्षा:मूल अवधारणाएँ, अमर जैन, साहित्य संस्थान, आगरा।
5. शास्त्री, गणेश मुनि (2004), शिक्षा विज्ञान, श्री दिवाकर प्रकाशन, आगरा।
6. शुक्ला, डॉ. रमा, माध्यमिक शिक्षा संस्थान, आत्माराम एण्ड सन्स, लखनऊ।
7. शास्त्री, श्री विजय मुनि, चिन्तन के चार चरण, पृ.सं. 140।
8. वर्मा, श्री परिपूर्णानन्द (1988), भारत में प्राचीन शिक्षा तथा आधुनिक शिक्षा, पृ.सं.227, गीताप्रेस, गोरखपुर।